

## सारांश

### प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था – एक अनुशीलन (वैदिक काल से लेकर आठवीं सदी, ई0 तक)

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण-व्यवस्था का स्थान महत्वपूर्ण है, जो वैदिक काल से लेकर आज तक निरन्तर प्रवहमान है। जिसमें कालान्तर में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी अवस्थाओं का इसने अपनी वर्णगत व्यवस्था से किसी न किसी रूप में दिशा-निर्देशन किया। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिलता है।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ×k\*' वरणे या 'वरी' धातु से हुई है जिसका अर्थ- चुनना या वरण करना। संभवतः वर्ण से तात्पर्य 'वृत्ति' से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्व वैदिक युग की समाज रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वैदिक समाज के प्रारम्भिक चरण में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ है। उषा को अरुण वर्ण तथा रात्रि को कृष्ण वर्ण कहा गया है।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक चरणों में वर्ण-व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी। उस समय दो वर्ण थे- आर्य और आर्येत्तर (दास-दस्यु) प्रथम मण्डल में अगस्त ऋषि द्वारा दो वर्णों की कामना किये जाने का उल्लेख है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'पुरुष सूक्त' में एक मात्र ऐसा सूक्त है जहाँ चतुर्वर्णों का उल्लेख होता है। यह परिकल्पना आदि पुरुष के चार अंगों से की गयी है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरुतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत ॥

यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक संगठन एक शरीर के रूप में कल्पित किया गया है। जिसका लाक्षणिक अर्थ लगाया गया है कि मनुष्य मात्र को शिक्षा देने (मुख) वाले ब्राह्मण, रक्षा करने वाले (बाहु) क्षत्रिय, भोजन या अन्न प्रदायक (निचला भाग अन्न ग्राहक) वैश्य तथा सभी की सेवा (पैर) वाले शूद्र हैं। इस प्रकार इसमें चारों वर्णों के क्रम, उनकी दैवी उत्पत्ति तथा उनकी उच्चता-निम्नता भी प्रकट है। वैदिक काल के पूर्व युग में ही वर्णों का समाज एकत्रित होने लगा। आर्य और अनार्य (दास) के रूप में प्रधान प्रतिस्पर्धी वर्ग सामने आ चुके थे। तथा दोनों वर्ग परस्पर विरोधी रूप में आगे बढ़े। यद्यपि ऋग्वेद के दशम् मण्डल के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों का उल्लेख अवश्य हुआ है किन्तु उस मण्डल की प्राचीनता उतनी नहीं है जितनी ऋग्वेद के अन्य मण्डलों की है।

चारों वर्णों का सर्वप्रथम एकत्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है किन्तु यहाँ भी उनके साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है।

यहाँ सम्पूर्ण मानव समाज की, कल्पना एक विराट पुरुष के रूप में की गयी है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण उस विराट पुरुष का मुख है, भुजाएं क्षत्रिय, उरु वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। आर्यों ने समाज के जिन विभिन्न समूहों अथवा वर्णों का निर्माण किया उनमें उनके गुण के साथ-साथ उनके प्रधान कर्म को भी महत्व दिया गया। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों अथवा समूहों को उनके प्रधान गुण और कर्म के आधार पर विभाजित किया गया तथा उनके कर्मों को प्रबल रूप से व्यवस्थित किया गया।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी वर्णों की उत्पत्ति ईश्वरकृत एवं दैवी मानी गई। इसे परम्परागत सिद्धान्त भी कहा गया। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति ईश्वरकृत है।

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात ।

पुरुष एवेद सर्व यद्भूतं यच्चभव्यम् ॥

यह सृष्टिकर्ता हजार सिर, हजार आँखों और हजार पैर वाला था, जो भूत और भविष्य दोनों था और जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख अवेस्ता में भी हुआ था। प्राचीन ईरानी समाज अथर्व (पुरोहित), रथेष्ट (योद्धा) वास्त्रीय पशोयन्त (परिवार के मुखिया) तथा हुइती (श्रमिक) में विभाजित था। किन्तु अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि ईरानी समाज का वर्ण विभाजन उत्तरकालीन है, और उनका आधार भारतीय आर्यों की वर्ण व्यवस्था है। ऋग्वेद की वर्ण विषयक अवधारणा श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक वर्ण के कार्य का महत्व है। इस वर्ण व्यवस्था को दैवी इसलिए कहा गया कि इससे सम्बद्ध वर्ण ईश्वर के भय से अपने-अपने वर्ण के अन्तर्गत रहें तथा इस नियम का उल्लंघन करने का प्रयत्न न करे।

दैवी सिद्धान्त के रूप में वर्ण-व्यवस्था के उद्भव का वर्णन महाभारत में भी किया गया है। महाभारत में विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्म की कल्पना की गयी है, तथा उसके विविध अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति बताई गयी है। शान्ति पर्व के अन्तर्गत यह उल्लेख प्राप्त होता है कि "ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं (बाहु) से क्षत्रिय, उरु (जंघा) से वैश्य और तीनों वर्णों की सेवा के लिए पैर से शूद्र की रचना हुई। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है तथा मैं उसका कर्ता और विनाशक हूँ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध यकर्तारमव्ययम् ॥

इसी प्रकार मनुस्मृति तथा पुराण में भी वर्ण-व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त मिलते हैं। मनु के अनुसार ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए मुख, बाहु, उरु तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की।

वर्ण व्यवस्था में कर्म का बहुत योगदान रहा जिसमें वैदिक युग के शुरू में ही जो लोग शिक्षा, यज्ञ, इत्यादि धार्मिक रुचि रखते थे, वे ब्राह्मण वर्ग कहलाये। इनका मुख्य कर्म अध्ययन, अध्यापन, याजन और तप था। जो वर्ग राज्य व्यवस्था में सहयोग देते थे और जिनका प्रधान कर्म देश की रक्षा करना था। वे क्षत्रिय वर्ग कहलाये। जिसका पशुपालन, कृषि तथा व्यापार प्रधान कर्म था वह वैश्य कहलाये। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र वर्ण का कर्तव्य कहा गया। इस प्रकार वर्णों के ये प्रधान कर्म थे जिससे समाज में चार वर्णों का निर्माण किया गया और कर्म को एक सामाजिक व्यवस्था प्रदान किया।

वर्ण का अर्थ रंग भी होता है। ऋग्वेद में रंग के आधार पर मूलतः 'आर्य वर्ण' एवं दास वर्ण का विभाजन मिलता है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक चरण में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ। ऊषा को अरुण वर्ण तथा रात्रि को कृष्ण वर्ण कहा गया है। ऋग्वेद के आठवें सूक्त में तीन वर्णों – ब्रह्म, क्षत्र एवं विश् की श्रीवृद्धि के लिए अश्विनों से प्रार्थना की गई है। वर्ण के ये दोनों वर्ग आर्य और अनार्य (दास) का वर्ण-अर्थ श्वेत (गौर) और कृष्ण (श्याम) रंग। अतः वर्ण का रंग तत्कालीन युग में बहुत अधिक व्यवहार में था।

जन्म और कर्म भावना का वैदिक युग में ऋग्वेद के नवें मण्डल में उल्लेख मिलता है कि मैं कवि हूँ। मेरे पिता एक वैद्य थे। मेरी माता अन्न पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना करते थे। इस प्रकार कोई भी मनुष्य जन्म से न होकर कर्म के आधार पर व्यवसाय चुन सकता था। महाभारत में भी वर्ण-व्यवस्था में जन्म और कर्म के आधार पर उल्लेख किया गया है।

कहीं पर जन्म को वर्ण-व्यवस्था माना गया है और कहीं पर कर्म की प्रधानता स्वीकार्य किया गया है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों की भावना के आधार पर समाज को सुगठित करने का प्रयास किया गया था। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिला है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य है। ऐसी स्थिति में वर्ण व्यवस्था के प्रत्येक वर्ण की वृत्तियों के अनुरूप आचार समस्त गुणात्मक कर्म है, जो धर्म समस्त समाज की विधायक वृत्ति है।

### **‘द्वितीय अध्याय’ में वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का विकास –**

ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। किन्तु उस समय समाज में केवल दो जाति-समूह थे। एक ‘आर्य’ दूसरा अनार्य। ऋग्वेद में ‘वर्ण’ शब्द का प्रयोग आर्य और दास के लिए हुआ है। किन्तु इसमें किसी ऐसे श्रम-विभाजन का संकेत नहीं मिलता जो परवर्ती काल में समाज के व्यापक वर्गीकरण का आधार हुआ। आर्य वर्ण और दास वर्ण दो वृहद् जनजातीय समूह थे जो सामाजिक वर्गों के रूप में विघटित हो रहे थे।

ऋग्वैदिक समाज में आर्यों से अनार्यों या दासों- दस्युओं को अलग-अलग करने के लिए उनके अनेक अवगुणों को भी प्रकट किया गया है। उन्हें अव्रत (देवताओं के नियम और व्यवहार को अस्वीकार करने वाला), मृध्रवाचः, अपनासः (चिपटी नासिका वाला) तथा अक्रतु (यज्ञ न करने वाला) कहा गया। ये दोनों वर्ण एक दूसरे से कार्य-व्यवहार, आचरण तथा बोलचाल के अतिरिक्त रंग में भी भिन्न थे। यह विभाजन वर्गीय और सांस्कृतिक था।

वर्ण-व्यवस्था का विकास अचानक न होकर एक क्रमिक विकास का परिणाम रहा है। आर्य और अनार्य से पूर्ण विकसित होकर समाज चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र रूप में विभक्त हुआ।

**ब्राह्मण** - ऋग्वेद में 'ब्रह्म' का अर्थ है प्रार्थना या स्तुति। ऋग्वेद में कहा गया है कि हे अग्नि! अपनी ज्वाला से हमारी स्तुति में वृद्धि करो तथा विश्वामित्र का यह ब्रह्म अर्थात् स्तुति या आध्यात्मिक शक्ति भरत जनों की रक्षा करे। ऋग्वेद में ब्राह्मण का उल्लेख अनेक मंत्रों में हुआ है जिनसे ज्ञात होता है कि वे सोमपान करते थे, प्रार्थना करते थे, समाज में उनका विशिष्ट स्थान था। ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र, और विश् अलग-अलग समुदायों के रूप में उल्लिखित है। ऋग्वेद के ब्राह्मण को यह माना जाता है कि वेदों की जितनी शाखाएँ थी, उतने ही उनके ब्राह्मण, आरण्यक और सूत्र ग्रन्थ आदि भी थे। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं- जिसमें पहला ऐतरेय ब्राह्मण दूसरा कौषीतकी ब्राह्मण। ऋग्वैदिक समाज में ब्राह्मण व्यक्ति कोई भी व्यवसाय अपना सकता था। वह अपनी इच्छानुसार कर्म का अनुसरण कर सकता था। इसी प्रकार ब्राह्मण ऋषि भृगु रथ निर्माण में निपुण थे। किन्तु समाज में उनकी प्रतिष्ठा यज्ञिक कर्म, तपश्चर्या और विद्वता से ही थी। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। क्षत्रिय-क्षत्रिय शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है, क्षत्र का सामान्य अर्थ 'शौर्य' अथवा 'वीरता' आर्यों के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूर वीरों का एक वर्ग बन गया था, जो यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू-क्षेत्रों पर अधिपत्य स्थापित करता था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 'राजन्य' शब्द का व्यवहार किया गया है। क्षत्रियों की रक्षा कार्य एवं शासन कार्य से सम्बन्ध ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से संकेतित होता है। यद्यपि देवापि और

शान्तनु की कथा भी यह प्रमाणित करती है कि पूर्व वैदिक काल में क्षत्रिय वर्ग के रूप में थे और क्षत्रिय होने के आधार कर्म या जन्म नहीं।

**वैश्य** – 'वैश्य' शब्द ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी आया है, किन्तु 'विश्' शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में विश् का प्रयोग जनदल के रूप में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के अतिरिक्त शेष आर्य लोग को 'वैश्य' कहा गया।

**शूद्र** – समाज के वर्ग के रूप में शूद्रों का प्रथम और एकमात्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में आया है जिनकी पुनरावृत्ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में हुई है। शूद्र का स्थान समाज में चौथा था। ऋग्वेद में केवल एक बार उल्लेख हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से विजित अनार्य, आर्यों के दास होंगे। अतः आर्यों ने उन्हें अपने समुदाय में ग्रहण कर लिया था और शूद्र की संज्ञा दी।

### **उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का विकास –**

उत्तर वैदिक काल में 'वर्ण-व्यवस्था' अत्यधिक विकसित हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में भी इसकी उत्पत्ति को दैवी बताकर समाज को व्यवस्थित करने का प्रयास हुआ। ब्रह्म के चार अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति ही नहीं बतायी गयी बल्कि सम्पूर्ण विश्व को उसी यज्ञानुष्ठाता पुरुष का एक अंश बताया गया, जिसमें चर-अचर सभी का समावेश है। इस काल में समाज में वर्णों का क्रम निर्धारित हो चुका था, क्योंकि उपनिषद् में ब्रह्मा द्वारा क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के निर्माण का स्पष्ट विचार व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण-भेद भली-भाँति विकसित हो चुका था। उत्तर वैदिक

काल में कर्मकाण्डों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज ब्राह्मणों पर आश्रित सा हो गया और ब्राह्मणों ने जो व्यवस्था और क्रम दिया उसे मानने को सभी लोग विवश हो गये।

**ब्राह्मण** – उत्तर वैदिक काल के समाज में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति का पता चलता है, ब्राह्मणों को दिव्य वर्ण का उल्लिखित किया गया था। इन्हें देवता तुल्य माना गया, उसमें ऐसा कहा गया है कि समस्त देवता निवास करते हैं। ऋग्वैदिक समाज में कर्मों के आधार पर वर्णों का निर्धारण हुआ था। विद्या, अध्ययन-अध्यापन, यजन, याजन आदि कर्म करने वाले व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण में आते थे और यही लोग पौराहित्य का भी कार्य करते थे। उत्तर वैदिक समाज में कुछ परिवर्तन हुआ इस युग में ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले बालक को अन्य वर्णों से श्रेष्ठ माना जाने लगा।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अब जन्मना हो गयी और ब्राह्मण वर्ण जाति के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण वर्ण को संयत रखने के लिए यह कहा गया कि विधिहीन हवन करने वाले ब्राह्मण की सन्तान अन्य तीन वर्णों की हो जाती है। वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार है। उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण पौराहित्य कार्य करते थे। राजा को पुरोहित रखना अनिवार्य था। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई अन्तर नहीं था। वे दोनों अपना व्यवसाय तथा वर्ण परिवर्तन कर सकते थे।

**क्षत्रिय** – ऋग्वैदिक काल में क्षत्रिय का सामान्य अर्थ राजा माना गया है, किन्तु उत्तर वैदिक काल में क्षत्रिय एक जाति हो गयी थी। सामाजिक व्यवस्थाकारों ने क्षत्रिय वर्ण को दूसरा स्थान दिया था। वेदों में क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना बताया गया है, और इसलिए इनकी उत्पत्ति बाहु (भुजाओं) से बतायी



है। उत्तर वैदिक काल में राजा शासक मात्र ही नहीं था, अपितु उच्च कोटि का शिक्षक तथा दार्शनिक विद्वानों का संरक्षक भी था। विदेह शासक राजा जनक, पांचाल नरेश प्रवहण जैवालि, काशी नरेश अश्वपति, तथा कैकेय क्षत्रिय थे। इनके पास सुशिक्षित ब्राह्मण भी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। उच्च अध्यापन हेतु पांचाल परिषद् जैसे नियमित संगठन थे जिनके संरक्षण प्रवहण जैवालि थे। इससे स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में कुछ क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मणों के आचार्यत्व के एकाधिकार को चुनौती दी और अनेक ब्राह्मणों को दीक्षा प्रदान किया।

**वैश्य** – ऋग्वैदिक समाज में साधारण अर्थ में प्रयुक्त 'विश्व' शब्द उत्तर वैदिक काल में तृतीय वर्ण को व्यक्त करने लगा। वैश्य की उत्पत्ति उत्तर वैदिक काल में प्रजापति के जाघों से हुई बतायी गयी है। वैश्य का मुख्य कर्तव्य पशुपालन और अन्नोत्पादन करना था। वैश्य वर्ण व्यवसाय में कृषि एवं पशुपालन से जुड़ा था तथा वह देवकर्म एवं यज्ञिक कर्म में सहयोग देता था। इस प्रकार याज्ञिक क्रियाओं में वैश्य समुदाय का सहयोग आवश्यक माना गया था। ऋग्वैदिक काल में क्षत्रियों और वैश्यों में इतना अंतर न था जितना की बाद में हो गया। इसलिए उत्तर वैदिक काल के साहित्य में कहा गया है कि क्षत्रिय वैश्य की सम्पत्ति का उपभोग करता है। वैश्य क्षत्रिय के लिए धन देता था कि वह उसकी रक्षा करता था, और ब्राह्मण को यज्ञों में दक्षिणा के रूप में धन देता था। ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य के यश को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाती थी।

**शूद्र** – ऋग्वैदिक समाज के अनार्य (दास) ही शूद्र कहलाये। उत्तर वैदिक समाज में शूद्रों की श्रेणी में अन्य लोग भी आ गये और इनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुयी। ऋग्वैदिक समाज में वर्णों के अन्तरभाव जहाँ बहुत कम

दिखाई देता है वहीं उत्तर वैदिक काल में इस अन्तर की वृद्धि दृष्टिगत होती है। उत्तर वैदिक काल में शूद्रों की स्थिति उत्तर वैदिक सामाजिक चिन्तकों ने ऋग्वैदिक विचारधारा का अनुसरण कर इनकी उत्पत्ति प्रजापति के पैरों से बताया है। तथा सभी वर्णों का प्रिय होने की कामना की है। उत्तर वैदिक काल में कोई भी व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तन नहीं कर सकता था, क्योंकि यह धारणा थी कि पूर्वजन्म के कार्यों के अनुसार ही व्यक्ति का वर्णानुसार जन्म होता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के जन्मना हो जाने से शूद्रों को निम्न श्रेणी में रखकर चौथा स्थान दिया गया।

### तृतीय अध्याय— ईसा पूर्व 600 से 300 ईसा पूर्व तक वर्ण व्यवस्था का विकास—

यह युग धार्मिक चेतन का युग था, एक ओर ब्राह्मण-विचारधाराओं के पोषण समाज को अपने विचारों में बोझिल कर रहे थे तो दूसरी ओर जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक इसके विरोध में तत्पर थे। सभी धर्म कर्म को ही प्रधान मानते हैं, किन्तु वर्ण-विभाजन के क्रम को सभी ने नहीं स्वीकार किया है। उत्तर वैदिक काल में चातुर्वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ। तथा सूत्रकाल में वर्ण व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी। वर्णों के उद्गम में जन्म का आधार अधिक माना गया और कर्म का क्रम (1) वर्ण व्यवस्था की स्थिति में जन्म के साथ-साथ आनुवंशिकता का अधिक महत्व दिया गया है।

**ब्राह्मण** — सूत्र युग में वर्ण-व्यवस्था का पुनः संगठन किया गया है। जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रबल विरोध के कारण ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने वाला व्यक्ति भले ही वह अपने कर्म से च्युत हो जाय फिर भी श्रेष्ठ है। बौद्ध विचारकों ने ब्राह्मणों से पहले क्षत्रिय का उल्लेख कर ब्राह्मण को दूसरे स्थान पर कर दिया और इसके पीछे कर्म को महत्व दिया। धर्मसूत्रकारों के अनुसार क्षत्रिय वर्ण के लोग शासक होते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों के शासक नहीं हो सकते। ब्राह्मणों के

प्रमुख कर्तव्य वेदाध्ययन करना—कराना, यज्ञ करना—कराना , दान लेना, इत्यादि मुख्य कार्य है, जो ब्राह्मणों के विशेषाधिकार भी हैं। इस काल में धर्मसूत्रकारों ने अनेक प्रकार की व्यवस्था देकर समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनाये रखने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से राजा पर भी नियंत्रण लगाया जाने लगा। किन्तु जैन एवं बौद्ध साहित्य से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की आलोचना भी हुई। ब्राह्मण वर्ण पर इससे आघात अवश्य लगा। यद्यपि इससे कोई विशेष अन्तर तत्काल नहीं पड़ा, परन्तु धीरे—धीरे समाज इसके प्रभाव से अछूता न रह सका।

**क्षत्रिय** — ब्राह्मण विचारधारा के प्रतिकूल सामाजिक स्थिति एवं चिन्तन के फलस्वरूप बौद्ध चिन्तकों ने क्षत्रिय समाज को समाज में प्रथम स्थान दिया। बौद्ध काल में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को समाप्त कर उनके सामाजिक पाखण्ड और आडम्बर को समाज के सम्मुख अनावृत किया। बुद्ध जैसे बौद्धिक नेताओं ने इसी वर्ण में जन्म लेने के कारण इस वर्ण को उत्कृष्ट माना है। क्षत्रियों को कभी—कभी अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के कारण शिल्प, वाणिज्य इत्यादि कर्म भी अपनाना पड़ जाता था।

**वैश्य** — वैश्य को ब्रह्म के उदर से उत्पन्न मानने का विचार इस युग में स्वीकार किया गया। वैश्यों का प्रमुख कर्तव्य पशुपालन, कृषि तथा व्यापार के माध्यम से समाज के उदरपूर्ति की आवश्यकता को इस काल में पूरी तरह स्वीकृति प्रदान की गयी। बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्माने वैश्यों में कर्म वृद्धि के लिए अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, कृषि, व्यापार, पशुपालन जैसे कर्म संयुक्त किये गये। कृषक के रूप में वैश्य वर्ण के लोगों को कुछ अधिकार भी प्राप्त थे। बौद्ध साहित्य में वैश्य वर्ण के लिए गृहपति, सेट्टि इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः वैश्य वर्ण उस युग का अत्यन्त समृद्धिशाली और सम्पन्न वर्ण था।

**शूद्र** – वर्ण-व्यवस्था में शूद्र का चौथा स्थान था। उत्तर वैदिक काल में शूद्रों की हीनता एवं चारों वर्ण में सबसे निम्न होने का विचार व्यक्त किया गया था। शूद्रों के विशिष्ट कर्तव्यों में द्विजातियों की सेवा सुश्रूषा करके अपनी जीविका चलाने की बात भी कही गयी। इस काल में शूद्रों को राजनीति संगठन में स्थान नहीं दिया गया क्योंकि आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने अधिकारी रूप में केवल आर्यों (द्विज) की नियुक्ति करने को कहा है। समाज में अनेक प्रकार के अंकुश और नियंत्रण उन पर लगाये गये थे जिससे वे समाज-व्यवस्था में किसी प्रकार का तालमेल न कर सके।

**चतुर्थ अध्याय— महाकाव्य काल से प्राक्काल से प्राक्गुप्त (300 ई0पू0— 300 ई0 तक) वर्ण व्यवस्था का विकास:—**

उत्तर वैदिक काल में जो वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप था वही महाकाव्य युग में स्वरूप मिलता है। पूर्वकाल में जैन एवं बौद्ध धर्मों से प्रभावित वर्ण-व्यवस्था पर इस युग में पुनर्व्यवस्थित करने तथा एक नया आयाम देने का कार्य इस काल में किया गया। यह कार्य विशेषतः मनु ने किया। ऐसी धारणा है कि रामायण काल में वर्ण व्यवस्था का क्रमिक विकास की दिशाओं में संक्रमण कर रही थी। इस काल में जर्जर व्यवस्था को पुनः स्थिर करने के उद्देश्य से वर्ण-व्यवस्था को केवल नये रूप में समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। महाभारत में जन्मगत वर्णानुसार कर्म करना उचित बताया गया। व्यक्ति का संस्कार भी वर्णानुसार जन्म के कारण ही होता है।

**ब्राह्मण** – मौर्यकाल में जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण ब्राह्मण वर्ण की पर्याप्त क्षति हुई जिसके कारण ब्राह्मणों की स्थिति तथा उच्चता को आघात लगा। इसी कारण ब्राह्मणों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ रखने और उच्च बनाने का विचार प्रस्तुत किया। समकालीन ब्राह्मण शासक पुण्यमित्र शुंग ने उसे

राजनीतिक संरक्षण प्रदान कर गतिमान किया। इस युग के विचारकों के अनुसार केवल ब्राह्मण ही तीनों वर्ण को यज्ञ करा सकते थे। ब्राह्मणों के राजनीतिक विशेषाधिकार में महाकाव्यकाल में भी पुरोहित का आदर और सम्मान पूर्ववत् था। राजा का महान परामर्शदाता था तथा अपनी समुचित सलाह से प्रशासन में उसे मार्ग-दर्शन करता था। ब्राह्मण धर्म का सेतु, सबका पथ-प्रदर्शक नेता, सनातन और यज्ञ-निर्वाहक होता है। उसका आश्रय लेकर ही सारी प्रजा जीवन धारण करती है।

**क्षत्रिय** – इस युग में क्षत्रियों की उत्पत्ति भुजाओं से बतायी है। किन्तु रामायण में क्षत्रियों की उत्पत्ति हृदय से बतायी गयी। मौर्योत्तर काल में क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन, विषयों में अनासक्ति तथा दण्ड धारण बताया गया है। यज्ञानुष्ठान राज्य और धर्म की रक्षा करने वाला राजा देवलोक पाता है। वेदों का ज्ञान शास्त्राध्ययन, चातुर्वर्ण्य रक्षा तथा स्वधर्म की स्थापना करने वाला राजा सदैव सुखी रहता है। राजधर्म ही प्रधान है, क्योंकि इसी से सभी वर्णों का पालन होता है।

**वैश्य** – इसमें 'वैश्यों' की उत्पत्ति की पूर्ववर्ती विचारधारा का समर्थन किया गया है। जबकि दूसरी विचारधारा के अनुसार वैश्यों की उत्पत्ति उदर से बतायी गयी है। महाभारत में भृगु का विचार है कि वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर पशुपालन कृषि, वाणिज्य करने वाला तथा अन्न संग्रह में रुचि रखने वाला ही योग्य वैश्य होता है। उसे ब्राह्मण का सत्कार, समस्त वर्णों की उत्पत्ति तथा गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिए। अपने वर्णधर्म के पालन से राजा की आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही क्षत्तियोचित वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर सकता था। मौर्योत्तर काल में वैश्यों के आर्थिक दृष्टि से समाज में महत्व को पूरी तरह व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार किया गया था।

शूद्र – मौर्योत्तर काल में भी शूद्रों की उत्पत्ति पूर्ववत् बतायी गयी है। शूद्रों को तीनों वर्णों की सेवा करना, इससे उन्हें सुख सम्पत्ति प्राप्त होती है, इसीलिए सेवा करना ही उनका प्रमुख कर्तव्य तथा धर्म है। अपने कर्म में लगा रहने वाला शूद्र भीष्म के विचार से मृत्यु के बाद स्वर्ग जाता है। स्वामी द्वारा त्यागने के बाद भी शूद्र सेवाकार्य से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि सेवा ही उसका स्वभाव है।

धर्म के क्षेत्र में शूद्र वैदिक यज्ञों के अधिकार से वंचित हो रहे थे। शूद्र की स्थिति में परिवर्तन के इस लक्षणों से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जिस पुराने समाज ने उन पर अनेकानेक आवश्यकताएँ लादकर उन्हें गुलाम बना रखा था, वह विलीन होने लगा था और उसकी जगह ऐसा नया समाज पनप रहा था जिसने उन्हें बेहतर स्थान दिया था। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को गुप्तकाल में अधिक बढ़ावा मिला।

### गुप्तकाल से लेकर आठवीं सदी ई० तक –

वर्ण-व्यवस्था के प्रारम्भिक रूप की झलकियाँ ऋग्वेद से शुरू हो जाती है। जो गुप्तकाल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। याज्ञवल्क्य वर्णों को जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। इस काल में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धान्त और जन्म पर आधारित जाति सिद्धान्त दोनों ही का प्रभाव समाज पर पड़ा है।

**ब्राह्मण** – समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि ब्रह्मा ने वेद तथा धर्म की सुरक्षा के लिए और पितरों एवं देवताओं की संतुष्टि के लिए ब्राह्मण का सृजन किया था। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के तीन प्रमुख कर्तव्य बताये गये हैं—

वेदाध्ययन, यज्ञ करना, तथा दान देना। ब्राह्मण राजनीतिक विशेषाधिकार में राजमंत्रियों के पुरोहित को प्रधान स्थान था। तथा न्याय व्यवस्था से भी सम्बद्ध थे। 484 ई० के एरण अभिलेख में कहा गया है कि जिस राज्य की प्रजा का नेतृत्व ब्राह्मण करता है वह समृद्ध रहता है। वाकाटक तथा कदम्ब राज्यों के संस्थापक क्रमशः विन्ध्यशक्ति एवं मयूरशर्मा भी ब्राह्मण जाति के थे। गुप्त राजाओं के राजपुरोहित राज्य की समस्त धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करवाते थे। इस युग में ब्राह्मणों का अनुपम आदर सम्मान था।

**क्षत्रिय** — इस काल में प्रारम्भिक गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-सिद्धान्त तथा जन्मधारित सिद्धान्त दोनों समानरूप से समाहित थे। क्षत्रिय का स्थान समाज में द्वितीय माना गया यद्यपि समाज में क्षत्रिय का कर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण था तथा समाज तथा देश की रक्षा करना क्षत्रियों का सर्वप्रमुख कर्तव्य था। कालिदास ने धनुष को क्षत्रिय की प्रमुख पहचान बताई है। इस काल के साक्ष्यों में भी उनके इस उत्तरदायित्व पर बल दिया गया है। विष्णु पुराण में शस्त्र धारण तथा पृथ्वी की रक्षा करना तथा क्षत्रिय की आजीविका के साधन बताये गये हैं।

**वैश्य** — गुप्तकाल में वैश्यों का प्रमुख कर्म कृषि व्यवसाय था। द्विजों में वैश्यों का तीसरा स्थान वैदिक काल में ही निर्धारित हो गया था। गुप्तकाल में वैश्य को श्रेष्ठि, वणिक, सार्थवाह आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। धनार्जन वैश्यों का प्रमुख उद्देश्य था। गुप्तकाल में वैश्यों की स्थिति ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से काफी निम्न थी। कृषि एवं विविध शिल्पों में लगे साधारण आर्थिक स्थिति वाले वैश्य द्विजों की अपेक्षा शूद्रों के अधिक निकट पहुँच गये थे।

**शूद्र** – गुप्तकालीन स्मृतिकारों में परम्परागत वर्ण-भेदक नियमों का पालन किया। वैदिक ग्रन्थों, स्मृतियों तथा पुराणों में शूद्र की उत्पत्ति ब्रह्म के पैरों से बताई गई है। मनुस्मृति में जहाँ शूद्र का परम कर्तव्य तीनों वर्णों की सेवा बताया गया है। वहीं याज्ञवल्क्य स्मृति में उनके प्रति उदार दृष्टिकोण रखा गया है, तथा उन्हें कृषक, कारीगर एवं व्यापारी बनने की स्वीकृति प्रदान की गई है। गुप्तकाल में शूद्रों के धार्मिक अधिकारों में वृद्धि हुई और कई कर्मानुष्ठानों के विषय में उन्हें तीनों उच्च वर्णों की समकक्षता मिली। इसके साथ-साथ आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ। निष्कर्षतः गुप्तकाल में शूद्रों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ था।

### **वर्णों के सामान्य कर्तव्य, विशिष्ट कर्तव्य एवं आपद्धर्म का विवेचन –**

कभी-कभी परिस्थितियों के कारण व्यक्ति स्वधर्म का पालन न कर सकने के कारण अपना जीवन यापन नहीं कर सकता था। ऐसे संकट और विपत्ति के समय में उसके लिए वर्णोत्तर कर्म की व्यवस्था की गई थी। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए भिन्न-भिन्न कार्यों का विभाजन किया गया था।

ब्राह्मण के लिए भी ऐसा विधान था। इसी प्रकार क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए भी व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मण यदि अध्यापन करने, यज्ञ सम्पन्न कराने और दान प्राप्त करने से अपना और अपने परिवार का पालन कर सकने में असमर्थ होता था तो वह क्षत्रिय और वैश्य के कर्म भी अपना सकता था। इसी प्रकार अन्य वर्ण के लिए भी यही विधान बनाया गया था।

### **वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था एक अनुशीलन –**

वर्ण एवं जाति दोनों शब्दों का प्रयोग बहुधा समान अर्थ में होता रहा है। वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक आधार कर्म था, किन्तु कालान्तर में वर्ण कठोर होकर



विभिन्न जातियों में परिणित हो गया। तथा जाति का आधार विशुद्ध रूप से जन्म हो गया। धर्मसूत्रों में 'जाति' शब्द का प्रयोग केवल मिश्रित वर्णों के लिए किया गया है। जाति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में कृष्ण जाति के रूप में किया है। तीसरी शताब्दी ई०पू० से वर्ण के लिए जाति शब्द का प्रयोग होने लगा। जाति शब्द जन से बना है जिसका अर्थ है जन्म लेना। जाति वर्ण से अलग-अलग संस्था है। वर्ण मात्र चार हैं जबकि जातियाँ अनेक हैं। वर्ण परिवर्तन सरल था, किन्तु जाति परिवर्तन कठिन था। विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक वैवाहिक संबंध एवं खानपान पर भी प्रतिबन्ध था। वर्ण व्यवस्था में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। गुप्तकाल में जाति व्यवस्था एवं उपजातियों का वर्ण व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा। वर्ण व्यवस्था से पृथक संस्था के रूप में जाति में आनुवंशिकता श्रेणीबद्धता एवं अनेक पाबंदी पायी जाती है। इससे समाज व्यवस्थित हुआ और एक निश्चित नियम में बंधा जिससे वर्ण संकरता पर नियंत्रण लगा। सामाजिक नियमों के कठोर होने और सामान्यतः विवाह अपने वर्ग में ही होने से वर्ण संकरता में रोक लगा। जो समाज के लिए हितकर हुआ। क्योंकि वर्ण संकरता से सामाजिक व्यवस्था के विघटन की प्रबल संभावनाएँ थी।

वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के संगठित होने के फलस्वरूप शिल्प कौशल में वृद्धि हुई। पिता द्वारा पुत्र के व्यवसाय अधिग्रहण से कार्यकुशलता का बढ़ना स्वाभाविक था। सामान्यतः ऐसे व्यवस्थित समाज में व्यावसायिक ईर्ष्या नहीं आपसी तालमेल एवं प्रतिस्पर्धा बनी रहने की प्रबल संभावनाएँ रहती थी। जब तक सामाजिक समन्वय बना रहा तब तक वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था समाज के लिए हितकर नहीं। किन्तु धीरे-धीरे अस्मिता संघर्ष में एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति आती गयी। क्षत्रियों द्वार दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश और

उसमें उच्चता हासिल करना ब्राह्मण क्षत्रिय विरोध का परिचायक रहा है। वशिष्ठ, विश्वामित्र का परस्पर संघर्ष ब्राह्मण, ब्राह्मण द्वारा क्षत्रियों का संहार की कहानी क्षत्रिय राम द्वारा ब्राह्मण रावण के वध जैसी तमाम पौराणिक कहानियाँ इस बात की प्रतीक है कि सारे अच्छाईयों के बावजूद वर्ण व्यवस्था में आंतरिक संघर्ष विद्यमान था। आगे चलकर अस्पृश्यता जैसी उत्कृष्ट प्रथा के जन्म का कारण वर्ण व्यवस्था की कठोरता ही है जो समाज के लिए अभिशाप बनी इसी भावना के विरुद्ध आवाज उठाकर जैन एवं बौद्ध धर्म ने कीर्ति अर्जित की थी। यज्ञों एवं वेदों के अध्ययन में स्त्री तथा शूद्रों के अधिकार न दिये जाने की घोषणा कठोर वर्ण-व्यवस्था का परिणाम थी। जिसमें आगे चलकर द्विजेतर जातियों को इनके प्रति विरोधी प्रवृत्त का बना दिया। प्रो० रामशरण शर्मा ने भारत में जातियों एवं उपजातियों के उदय के विभिन्न कारकों— प्रादेशिक अलगाव, व्यवसाय की विशिष्टता इत्यादि का सम्यक् विवेचन कर स्पष्ट किया है कि कैसे इसने वर्ण-व्यवस्था को प्रभावित किया।

\*\*\*\*\*